VOLUME - 2

ISSN 2349-638x
IMPACT FACTOR 7.367

Shri Swami Vivekanand Shikshan Sanstha, Kolhapur's

Smt. Akkatai Ramgonda Patil Kanya Mahavidyalaya, Ichalkaranji

Tal-Hatkanangale, Dist- Kolhapur, Maharashtra- 416115
Affiliated to Shivaji University, Kolhapur
Reaccredited by NAAC with 'B+ Grade (2.57 CGPA)

ONE DAY NATIONAL MULTILINGUAL SEMINAR

on

'Socio-Cultural Context in 21st Century English, Hindi and Marathi Literature'

Saturday, 30th September, 2023

ORGANISED BY

Departments of Marathi, Hindi, English and IQAC

Chief Editor
Dr. Pramod P. Tandale

Executive Editor
Prof. (Dr.) Trishala Kadam

Editors
Prof. (Dr.) Subhash Jadhav (Marathi)
Mr. Sudhakar Indi (Hindi)
Mr. Dipak Sarnobat (English)
Minaj Naikawadi

Aayushi International Interdisciplinary Research Journal (AIIRJ)

Peer Reviewed And Indexed Journal
ISSN 2349-638x
Impact Factor 7.367
Website :- www.aiirjournal.com

Theme of Special Issue

Socio-Cultural Context in 21st Century English, Hindi and Marathi Literature

(Special Issue No.128)

Chief Editor

Dr. Pramod P. Tandale

Executive Editor

Prof. (Dr.) Trishala Kadam

Editors

Prof. (Dr.) Subhash Jadhav (Marathi)

Mr. Sudhakar Indi (Hindi)

Mr. Dipak Sarnobat (English)

Minaj Naikawadi

Sr.No.	Author Name	Research Paper / Article Name	Page No.
56	डॉ. अनिता एस. कपूर	'जिन्दगीनामा' उपन्यास में सांस्कृतिक परिदृश्य	188
57	डॉ. आरिफ शौकत महात	आदिवासी समाज जीवन में व्यक्त चेतना के विविध आयाम (आदिवासी कविता के संदर्भ में)	192
58	डॉ. विनोद श्रीराम जाधव	21 वी सदी के उपन्यासों में सामाजिक व सांस्कृतिक चेतना	200
59	डॉ.माधव राजण्या मुंडकर	'शकुंतिका' उपन्यास का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन	205
60	डॉ. प्रवीणकुमार न. चौगुले	इक्कीसवीं सदी के हिंदी काव्य में सामाजिक परिदृश्य	209
61	प्रा. संपतराव सदाशिव जाधव	'मैं भी औरत हूँ' में समाज की संकुचित मानसिकता का भय	216
62	डॉ. हेमलता काटे	चंद्रकांता के उपन्यासों में चित्रित सांस्कृतिक बोध	220
63	डॉ. रूपा चारी	ज़ीरो रोड : एक दास्तान	224
64	डॉ. दीपक रामा तुपे	'नयी सदी के स्वर' का सामाजिक परिदृश्य	228
65	डॉ. निशाराणी महादेव देसाई	21वी सदी की हिन्दी कविता में चित्रित बदलते सामाजिक, सांस्कृतिक संदर्भ	232
66	डॉ.महादेवी गुरव	21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में सामाजिक और सांस्कृतिक परिदृश्य	235
67	अनिता संजय चिखलीकर	नासिरा शर्मा की कहानियों में नारी विमर्श	238
68	डॉ.अंजली उबाळे	अप्रवासी हिंदी उपन्यासों में सांस्कृतिक परिदृश्य	242
69	डॉ.भिकाजी व्हन्नाप्पा कांबळे	इक्कीसवीं सदी के हिंदी ग़ज़ल साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य	246
70	सुरज विट्ठल डूरे	21 वीं सदी के असगर वजाहत के नाटकों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य	251
71	अरुण विट्ठल कांबळे	इक्किसवीं सदी के हिंदी काव्य में आदिवासी सामाजिक परिदृश्य	254
72	प्रमोद गणपती कांबळे	डॉ.जयप्रकाश कर्दम जी के 'तलाश' कहानी संग्रह में सामाजिक, विषमता का यथार्थ चित्रण	258

आदिवासी समाज जीवन में व्यक्त चेतना के विविध आयाम
(आदिवासी कविता के संदर्भ में)

डॉ. आरिफ शौकत महात
हिंदी विभाग प्रमुख,
विवेकानंद कॉलेज, कोल्हापुर (अधिकारप्रदत्त स्वायत्त)
ई. मेल- drmahatas@gmail.com

समय बदलता गया लेकिन हाशियों पर जीते समाज की परिस्थितियों में बदलाव नहीं आया। वह आज भी वैसे ही जी रहे हैं जैसे सदियों से जीते आ रहे हैं। ऐसे ही सदियों से हाशिए पर जीता आदिवासी समाज जो 5000 वर्षों से भी पुरानी अपनी सभ्यता एवं परंपरा को अपने सहजीविता सिद्धांत के बलबूते पर अपनी अस्मिता के साथ बरकरार रखे हुए हैं लेकिन वर्तमान दौर में अपनी सहजीविता के सिद्धांत के साथ जीते इस समाज की मान्यता, परंपरा एवं अस्तित्व पर खतरे मंडरा रहे हैं। वर्तमान दौर में हाशिए पर जीते समाज में से सबसे ज्यादा दुर्गति अगर किसी समाज की हुई है तो वह आदिवासी समाज है। भूमंडलीकरण के दौर में विकास का चक्र बड़ी तेजी से घूमने लगा। कुछ लोगों का विकास तो हुआ लेकिन इस विकास की कीमत बहुत सारे लोगों को चुकानी पड़ी।

अभावग्रस्त जीवन:

आदिवासी समाज की अपनी जीवन शैली है जो जल-जंगल-जमीन से जुड़ी हुई है। परंपरागत जीवन जीने वालायह समुदाय अपनी सारी जिंदगी अपने जल-जंगल-जमीन के बलबूते पर जीते आया है। इससे इसके इस जीने में भले ही वह पिछड़ रहा लेकिन वह अपनी संस्कृति परंपरा एवं अस्मिता को बहुत हद तक बचाए रखने में कामयाब रहा है। पहले भी यह समाज अभावग्रस्त जीवन में जी रहा था फिर भी उसे किसी से कोई शिकायत नहीं थी। वर्तमान विकास के इस दौर में विकास कुछ लोगों का ही हुआ लेकिन बहुत सारे लोगों को इसकी कीमत चुकानी पड़ी। यह कीमत सबसे ज्यादा आदिवासी समूह ने चुकाई। पहले से अभावग्रस्त जीवन जी रहे इस समुदाय को उसके जल-जंगल-जमीन से बेदखल करने की प्रक्रिया ने जोर पकड़ा। इसके चलते उनके परंपरागत जीवन पद्धति पर प्रतिबंध आता चला गया। आहिस्ता आहिस्ता यह समुदाय भूख, गरीबी, बेरोजगारी, ऋण ग्रस्तता, कुपोषण आदि की चपेट में आता गया।

दिवासी समुदाय के अभावग्रस्त होने का बहाना करके इनके उद्धार हेतु अनेक बाहरी लोग सक्रिय हो गए जो वास्तविक रूप में इनका शोषण ही करते रहे। इन मुखौटे धारी लोगों की वास्तविकता को डॉ वाहरु सोनवणे की 'स्टेज' कविता उजागर करती है। आदिवासी विका स की बात करते मंच अक्सर आदिवासी के हितोशी नजर आते हैं मगर उनके मंच से आदिवासी की वेदना एवं दुख कभी उजागर होता ही नहीं। इसीलिए कवि कहते हैं स्टेज पर हम गए नहीं और हमें कभी बुलाया नहीं जबकि यह सारा ताम-झाम हमारी समस्याओं को सुलझाने के लिए हो रहा है।

" वे' स्टेज पर खड़े हो
हमारा दुःख
हमें ही बताते रहे
"हमारा दुःख
अपना ही रहा
कभी उनका हुआ ही नहीं...."
हमारी 'शंकाएं'-
हम बड़बड़ाए
कान देकर 'वे' सुनते रहे

और निःश्वास छोड़ा
और हमारे कान पकड़कर
हमें ही धमकाया
माफी मांगो नहीं तो.... ।[1]

सदियों से अभावग्रस्त जीवन जीने वाला आदिवासी समुदाय आज भी अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। विकास को इस दौर में इसके जीवन में व्याप्त अभाव को दूर करने वाली शासकीय यंत्रना कहीं-ना-कहीं इनके जीवन को और भी यातनाओं से भर रही है, जिसके चलते इनके अभावों में और वृद्धि हो रही है।

उपेक्षित समाज एवं सीमित संसाधन:

आदिवासी समुदाय सदियों से उपेक्षित जीवन जीने के लिए मजबूर हैं। वास्तविक रूप में यही लोग धरती के मूल निवासी हैं। इनका पूरा जीवन उनके जल, जंगल, जमीन तक सीमित रहा है। जब जल, जंगल, जमीन के उनके अधिकार पर सवाल उठाए गए या उन्हें उनकी परंपरागत जीवन पद्धति पर कानूनन प्रतिबंधित किया जाने लगा तब इनकी सीमित संसाधन और भी सीमित होते गए।

अपनी आर्थिक विपन्नता पर भाष्य करते हुए रामदयाल मुंडा कहते हैं, समस्त संसार में राजा हमेशा ठाकुर ही होते हैं। हमारे लिए लाज शर्म को छोड़कर जोतना-कोड़ने का काम ही करना ही होगा क्योंकि-

" जो काम करेगा वही खाएगा
कुछ नहीं है लंबी पगड़ी में
जो काम करेगा, वही खाएगा" [2]

यह समाज किसी भी मेहनत से मुँह नहीं मोड़ता। अपनी स्थिति को बेहतर करने का हर प्रयास करता है। इनका यह प्रयास इनकी सीमित संसाधन के आगे दम तोड़ देता है । इसी विसंगति पर भाष्य करते हुए निर्मला पुतुल बाहामुनी कविता द्वारा कहती हैं।

"तुम्हारे हाथों बने पत्तल पर भरते हैं पेट हजारों
पर हजारों पत्तल भर नहीं पाते तुम्हारा पेट
कैसी विडम्बना है कि
जमीन पर बैठ बुनती हो चटाईयाँ
और पंखा बनाते टपकता है
तुम्हारे करियाये देह से टप... टप ... पसीना...!
क्या तुम्हें पता है कि जब कर रही होती हो
तुम दातुन तब तक कर चुके होते हैं सैकड़ों भोजन-पानी
तुम्हारे ही दातुन से मुँह-हाथ धोकर ?
जिन घरों के लिए बनाती हो झाड़ू
उन्हीं से आते हैं कचरे तुम्हारी बस्तियों में?" [3]

अपने होते सीमित संसाधन के प्रति उदासीन यह समुदाय अपनी परंपरागत जड़ों को छोड़कर बाहर जाने के लिए मजबूर हो रहा है। इसी की चलते आदिवासी समुदाय में विस्थापन की समस्या बड़ी तेजी से उभर कर सामने आ रही है। न चाहते हुए भी आदिवासी समुदाय अपने जल, जंगल, जमीन को छोड़कर बाहर जाने के लिए मजबूर हो रहा है।

"कब तक काम करोगे खून सुखाते हुए
कब तक उद्यम करोगे पसीना बहाते हुए
खून सुखाते हुए, पसीना बहाते हुए
बित्ता भर पेट भरता नहीं-

चलो, हम चलें असम देश को
प्रिय चलो, हम निकलें भूटान धरती को" [4]

अतः यह समुदाय कहने के लिए बेबस है कि अभी हमारा भूख से खोलता हुआ जीव तभी शांत होगा जब हम यहाँ से विस्थापन करेंगे। अपनी भूख की समस्या को मिटाने के लिए आदिवासी समुदाय विस्थापन तो कर रहे हैं लेकिन विस्थापन कर यह समुदाय एक समस्या से निकलकर अनगिनत नही समस्याओं में धसता चला जा रहा है। 'ढेपचा के बापू' कविता में निर्मला पुतुल ने कमाने के लिए अपना घर बार छोड़ गए आदिवासी पुरुष के स्त्री की पीड़ा को वाणी देने का काम किया है। इस कविता के माध्यम से निर्मला पुतुल जी वर्तमान आदिवासी समुदाय की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत करती है। पति तो अपने यहां के सीमित संसाधन से हारकर काम की तलाश में बाहर जाता है लेकिन उसका परिवार वही जंगल में, गाँव में मौजूद है। समस्याओं से जूझ रहा है। प्रस्तुत कविता में तीन साल से कमाने परदेस गए पति को पत्नी अपनी आपबीती सुना रही है।

"गाँव-घर का हाल तो जानते ही हो
जिसका मरद साथ नहीं होता
उसे कैसे-कैसे सताते हैं
गोतिया-भाय आस-पड़ोस के लोग
एक बार तो पता नहीं कौन
पिछवाड़े का कटहल तोड़ ले गया सब रातों-रात
और बँधना में सूअर काटकर खा गये
ऊपर पाड़ा के लोग
और एक दिन तो गजब ही हो गया
लखना के बेटे को साँप ने काटा
तो सबके सब आ धमके हम पर
कहने लगे डायन हैं हम" [5]

ढेपचा के बाबू की पत्नी अपने पति के ना होते हुए गाँव वालों की हर बुरी नजर से बचते हुए अपने परिवार को जैसे तैसे मेहनत कर पालना चाहती है लेकिन उसके मेहनत का सही मेहनताना उसे नहीं मिलता। अपने पति के साथ न होने के कारण खेती बाड़ी भी वह ठीक से नहीं कर पाती। इधर गाँव, जंगल में जो काम मिलता है उससे घर खर्च नहीं निकलता। दोना, पत्तल बनाती है। चटाई बनाती है। झाड़ू, पंखा, दातुन भी बनती है लेकिन इन सब का सही दाम उसे बाजार से नहीं मिलता।

"भूले-भटके गर कभी कोई पैकार आता भी है
तो रुपये जोड़ा माँगता है पंखा
और सौ रुपये दर्जन चटाई
एक तो सब छोड़-छाड़ दिन-भर लगे रहो
उस पर भी गर पचास-साठ नहीं निकले
तो उसे करने से क्या फायदा?" [6]

इन सब से परे वह मजदूरी भी करती है। ईंट-भट्ठे पर जाती है वहाँ भी उसका आर्थिक शोषण होता है। साथ ही ठेकेदार उसके साथ जो हँसी-ठठोली करता है उसे भी बर्दाश्त करना पड़ता है।

सीमित संसाधन के कारण वैसे भी आदिवासी पुरुष कमाने हेतु बाहर जा रहे हैं और विकास के नाम पर आदिवासियों को उनके ही घर से बेदखल किया जा रहा है। शहर के दोस्त के नाम पत्र कविता में कवि अपनी इसी पीड़ा को वाणी देता है। विकास की चपेट में आया उसका गाँव अब उसका रहा नहीं। उसके जीवन सत्व जल-जंगल-जमीन पर भी उसका अधिकार रहा नहीं।

" बाजार भी बहुत बड़ा हो गया है
मगर कोई अपना सगा दिखाई नहीं देता

यहाँ से सबका रुख शहर को ओर कर दिया गया है
कल एक पहाड़ को ट्रक पर जाते हुए देखा
उससे पहले नदी गयी
अब ख़बर फैल रही है कि
मेरा गाँव भी यहाँ से जाने वाला है" [7]

आदिवासी समाज अपनी बिगड़ी परस्थिति पर प्रतिक्रिया देना चाहता है लेकिन दुर्भाग्यवश उसकी अस्मिता की पहचान की लड़ाई सभ्य कहे जाने वाले समाज को उन पर होता हमला नजर आता है। अत: यह समाज आज अपेक्षित जीवन जीने के लिए मजबूर है। साथ ही अपने संसाधनों को जो की वास्तविक रूप में सीमित हैं उसे भी बचाए रखने में असफल हो रहा है।

दोहरा अभिशाप/ विवशता-

धरती का मूल निवासी कहा जाने वाला आदिवासी समुदाय दोहरे अभिशाप के साथ जी रहा है। एक ओर उसे प्रकृति से दो-चार हाथ होना पड़ता है जबकि वह उसकी जीवन वाहिनी है तो दूसरी ओर सभ्य कहे जाने वाले समाज की अमर्यादित आकांक्षाओं के खिलाफ उसे लड़ना पड़ता है। उसका यह संघर्ष एक तो प्राकृतिक है दूसरा मानव निर्मित है।

वर्तमान समाज में आदिवासी समाज दोहरे संघर्ष से जूझ रहा है। विकास के नाम पर प्रकृति पर होता अत्याचार प्रकृति के विध्वंस रूप धारण करने का कारण बनी हुई है। जिसके चलते प्रकृति से सीधे संपर्क में आने वाले इस समुदाय को सबसे ज्यादा उसके गुस्से का सामना करना पड़ता है। तो दूसरे तरफ मानव की अमर्यादित आकांक्षाओं के कारण आदिवासी समुदाय के जल-जंगल-जमीन में व्याप्त प्राकृतिक संसाधनों के चलते उन्हें उन्हीं के जमीन से बेदखल करने का प्रयास उन्हें संघर्ष पर उतारू कर रहा है। रामदयाल मुंडा 'जंगल जल रहे हैं' कविता के माध्यम से इन्हीं खतरों के प्रति अपने लोगों को सचेत कराते हैं। आज इन्हीं की प्राकृतिक संपदा पर इनका अधिकार न के बराबर है। इन्हें इनके ही जल-जंगल-जमीन से बेदखल किया जा रहा है। यह षड्यंत्र इतने सुचारू रूप से चल रहा है कि उनकी बेबसी और व्यवस्थाके दोगलेपन से सारी दुनिया परिचित है लेकिन कोई कुछ नहीं बोल पा रहा।

"कोई नहीं बोलता इनके हालात् पर
कोई नहीं बोलता जंगलों के कटने पर
पहाड़ों के टूटने पर
नदियों के सूखने पर
ट्रेन की पटरी पर पड़ी
तुरिया की लावारिस लाश पर
कोई कुछ नहीं बोलता।" [8]

आदिवासी समुदाय के इस दोहरे अभिशाप को अनुज लुगुन अपने काव्य संग्रह 'बाघ और सगुण मुंडा की बेटी' में खुलकर व्यक्त करते हैं। आदिवासी समाज प्राकृतिक बाघ से त्रस्त है और वह मनुष्य में उपजे चानर- बानर (बाघ) से भी त्रस्त है। वह एक साथ दोनों से संघर्ष कर रहा है, अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए। प्राकृतिक बाघ से लड़ने की कला वह जानता है। अपने पुरखों से वह यह कला सीख चुका है। प्राकृतिक बाघ के अपने नियम हैं। वह पेट भरने पर शिकार नहीं करता। "बचपन से ही अपने पूर्वजों से बाघ के किस्से सुनता आया हूँ। कभी हल जोतते समय, कभी महुआ चुनते हुए, राह चलते हुए, बैल-बकरी चराते हुए बाघ से भिड़ने की कई रोचक कहानियाँ मेरे गाँव की पगडण्डियों में बिखरी हुई हैं। लेकिन कभी भी मैंने अपने पूर्वजों से बाघ से डरने की बात नहीं सुनी। कभी भी किसी की बातों से यह एहसास नहीं हुआ कि बाघ के होने से उनकी सम्पूर्ण जाति विलुप्त हो जाएगी। न ही उनको बाघों से विस्थापित होने का डर था और न ही बाघों को उनसे । किसी ने तो यह भी सुनाया कि जब वे बाघ के साथ आमने-सामने हो गये तो उन्होंने बाघ से बस इतना ही निवेदन किया कि हम अपने-अपने रास्ते चल रहे हैं और दोनों निर्भीक होकर अपने-अपने रास्ते चलते रहे।" [9] लेकिन मनुष्य में व्याप्त बाघ इन सारे प्राकृतिक नियमों से परे हैं। यह अपने लोगों का ही शिकार कर रहे हैं।

"जंगल पहाड़ो के इस ओर है और

बाघ पहाड़ी के उस पार
पहाड़ी के उस पार राजधानी है,
उसने अपने नाखून बढ़ा लिए हैं
उसकी आँखें
पहले से ज़्यादा लाल और प्यासी हैं
वह एक साथ
कई गाँवों में हमला कर सकता है
उसके हमलों ने
समूची पृथ्वी को दो हिस्सों में बाँट दिया है,
जहाँ से वह छलाँग लगाता है
वहाँ के लोगों को लगता है
यह उचित और आवश्यक है
जहाँ पर वह छलाँग लगाता है
वहाँ के लोगों को लगता है
यह उन पर हमला है
और वे तुरन्त खड़े हो जाते हैं
तीर-धनुष, भाले - बरछी और गीतों के साथ" [10]

आदिवासी समुदाय का संघर्ष प्राकृतिक आपदाओं से कहीं ज्यादा मानव निर्मित आपदाओं से जुड़ा हुआ है। इन लोगों के बीच मौजूद उलटबग्घा बाघ हरदम इनके लिए खतरा बना हुआ। क्योंकि इसकी कोई पहचान नहीं है। ना ही तो इसके हमले करने के तरीके के कोई नियम हैं। वह इन्हीं लोगों के बीच मौजूद है। परंपरागत जीवन जीने वाला यह समुदाय पहले से ही अपनी सीमित संसाधनों के कारण एवं प्राकृतिक संघर्ष के कारण अभिशप्त है। वर्तमान समय में यह समुदाय विकास के नाम पर होने वाले अत्याचार से त्रस्त है। आज वह जैसे तैसे इस दोहरे अभिशाप से लड़ते हुए अपनी अस्मिता एवं आदिवासीयत को बचाने के लिए संघर्षरत है।

सामाजिक एवंराजनीतिक उदासीनता-

भारत का सामाजिक ढाँचा प्रारंभिक काल से ही बहुसामुदायिक रहा है। यहां विभिन्न धर्म, जात-पात, पंथ, वर्ग, समुदाय के लोग साथ रहते आए हैं। इन सभी की अपनी सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताएँ हैं। इन लोगों के जीवन में इनकी अहम भूमिका रहती है। भारत के बहुसामुदायिक सामाजिक ढाँचे में ऐसे बहुत से लोग एवं समुदाय हैं जो आज भी मुख्य धारा में अपनी जगह बनाने के लिए संघर्षरत हैं। वास्तव में उनके संघर्ष का मूल कारण मुख्य धारा में स्थापित समाज द्वारा उनकी होती उपेक्षा है। इन उपेक्षित समाज की दुर्गति और ज्यादा तभी होती है जब इन्ही समाज द्वारा संचालित अर्थतंत्र, राजनीति तंत्र इनकी घोर उपेक्षा करते हैं। वर्तमान दौर में आदिवासी समाज के संघर्ष के मूल तक पहुँचे तो इन्हीं कारणों को उनकी जड़ों में हम पाएंगे। "पहले जमींदार और अंग्रेज मिलकर आदिवासियों का शोषण कर रहे थे लेकिन आजाद भारत में सत्तासीन लोग और बड़ी-बड़ी देशी-विदेशी कंपनियों के मालिक मिलकर उनका शोषण ही नहीं बल्कि उनसे उनका सब कुछ छीन भी रहे हैं। यह सब कुछ किया जा रहा है 'विकास' और उन्हें 'सभ्य' बनाने के नाम पर जोकि एक तरह का छलावा है। इसका वीभत्स रूप हम झारखंड, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छतीसगढ़ में देख सकते हैं और इसी का परिणाम है की कई जनजातियाँ ख़त्म हो गई हैं कई ख़त्म होने के मुहाने पर बैठे हैं।" [11]

आदिवासियों का विकास सिर्फ कागजों तक सीमित रहा है। सरकार द्वारा विभिन्न योजनाएँ बनाई गई परंतु इन योजनाओं की गंगा कभी इन तक पहुँची नहीं। सरकार द्वारा आदिवासियों की कल्याण हेतु जितने भी प्रयास किए गए उनकी वास्तविक तस्वीर 'तुमने स्कूल बनाया' कविता में स्पष्ट होती है।

"तुमने स्कूल बनाया

गाँव वालों की शिक्षा के लिए
पढ़ने वाले बैठे हैं
(किन्तु) मास्टर नहीं हैं, हे राजा
कितने दिन ऐसे चलेगा
तुम्हारा राज, हे राजा ?
तुमने अस्पताल बनाया
रोगियों की सेवा के लिए
बीमार इन्तजार कर रहे हैं
(किन्तु) डॉक्टर नहीं हैं, हे राजा
कितने दिन ऐसे चलेगा
तुम्हारा राज, हे राजा?" [12]

यही स्थिति आदिवासियों के उद्धार हेतु बनाए गए सारी योजनाओं की है। इनके विकास के लिए योजनाओं का सुंदर से सुंदर ढाँचा बना है लेकिन अंदर से वह खाली एवं खोखला है।

पंचवार्षिक योजनाओं के नाम पर आखिर कब तक छलावा देते रहोगे यह प्रश्न अब हर आदिवासी पूछने के लिए मजबूर हो गया है। आदिवासियों को मुख्य धारा में लाने की बात करने वाले कहते हैं कि आदिवासी विकास की इस गंगा के संपर्क में आने के बाद सभ्य बन रहे हैं। शिक्षित हो रहे हैं इनके अंदर राजनीतिक सामाजिक चेतना जाग रही है जिसके चलते यह आने वाले समय में मुख्य धारा में शामिल होंगे, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि आदिवासी सिर्फ चौथी श्रेणी के नागरिक हैं, जो सत्ताधारियों को उनके सत्ता तक पहुँचाने का साधन मात्र हैं।

"इस देश में कास्ट सर्टिफिकेटों के माध्यम से ही
पहचाने जाते हम लोग
चौथी श्रेणी के नागरिक होने का
दर्द भोगते रहेंगे कब तक ?" [13]

'ढेपचा के बाबू' कविता के माध्यम से आदिवासी स्त्री के द्वारा निर्मला पुतुल जी आदिवासी समुदाय की होती राजनीतिक एवं सामाजिक शोषण की पूरी दास्ताँ बयाँ करती है। सरकार की तरफ से आदिवासियों के लिए योजनाएं बनाई गई है लेकिन वह योजनाएँ सच में उन तक पहुँची है या नहीं? पहुँची है तो उसकी जमिनीं हकीकत क्या है? यह शोध का विषय है।

"बड़ी मुश्किल से लाल - कार्ड बनवाया था
पर कोई फायदा नहीं दिखता उसका
कभी-कभार गर कुछ आता भी है
तो उधर प्रधान ही छाँक लेता है ऊपर-ऊपर" [14]

यही स्थिति सरकार द्वारा चलाए गए सारी योजनाओं की है। इंदिरा आवास योजना के हक़दार तो बेघर वाले हैं लेकिन गाँवों में इस योजना के लाभार्थियों को की सूचि बनाई जाए तो उसमें संपन्न परिवार ही नजर आयेंगें। जो थोड़े बहुत जागरूक नागरिक हैं वह इसके लिए कोशिश करते हैं लेकिन उनकी कोशिशों को कभी सफलता नहीं मिलती।

"इन्दिरा आवास के लिए बहुत दौड़-भाग की -
पंचायत सेवक को मुर्गा भी दिया
प्रधान को भी दिया पचास टका
पर अभी तक कुछ नहीं हुआ
पूरा डेढ़ साल हो गया" [15]

आदिवासियों के विकास के नाम पर इनका शोषण हर किसी ने किया है। जब आदिवासी समुदाय इन सारे क्रियाकलापों से अवगत हुए तो उन्होंने अपनी आदिवासियत को बचाए रखने के लिए संघर्ष का रास्ता अपनाया। उनके इस संघर्ष के हकीकत

को जाने बिना ही समाज, राजनीतिक, मीडिया, न्याय व्यवस्था आदि के द्वारा इन्हें ही कटघरे में खड़ा कर दिया गया। अपनी इसी पीड़ा को 'अनुज लुगुन' अपनी 'गुरिल्ले के आत्मकथन' कविता के द्वारा विस्तार से व्यक्त करते हैं। प्रस्तुत कविता में आदिवासियों की सभ्य समाज, राजनीति एवं व्यवस्था के द्वारा होती उपेक्षा की जीवंत तस्वीर देखने मिलती है। इन सारी व्यवस्था जिनमें सभ्य समाज, मीडिया कर्मी, चुने हुए नेता, न्याय प्रणाली है, जो इन्हीं के लिए होने का दंभ भरती है। लेकिन उनकी ओर से मिलती अपेक्षा आदिवासी समुदाय को गहरी चोट दे जाती है। अतः आदिवासी समुदाय सभी को अपनी इस परिस्थिति से अवगत कराना चाहता है।

"एक शोधकर्त्ता
एक पत्रकार
एक पेंटर
एक फोटोग्राफर
एक कलाकार और
एक प्रतिभाखोजी कोच की तरह
कविता को झारखंड घुमाना चाहता हूँ
टूटे-फूटे शब्दों में
कविता जैसी कुछ पंक्तियाँ
लिखने का प्रयास करता हूँ
कविता को झारखंड में घुमाना चाहता हूँ ।" [16]

वास्तव में कवि का यह मानना है कि उनकी वास्तविक स्थिति को देखे बिना कोई भी उनके प्रति अपनी राय न बना ले। साथ ही वह यह भी दिखाना चाहता है कि विकास के नाम पर इन्हें मुख्य धारा में लाने का दंभ भरने वालों की वास्तविकता क्या है? वह अपनी वर्तमान परिवेश को पूरी ईमानदारी और सच्चाई के साथ सारी दुनिया के सामने लाना चाहता है कि किस तरह उन्हीं के विकास के नाम पर उनका शोषण हो रहा है। वह यह बताने से भी नहीं चुकता कि समाज, राजनीति एवं अन्य व्यवस्था के घटकों के द्वारा उनकी घोर उपेक्षा हो रही है।

आजादी के 75 साल बाद भी आदिवासी समुदाय के सामाजिक, आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं आया। आजादी मिलने के बावजूद इन्हें इनके हक नहीं मिले। इसी कारण इनके लिए आजादी कोई खास मायने नहीं रखती। अपनी वास्तविक पीड़ा को वाणी देने का काम आदिवासी कवियों ने किया है। साथ ही व्यवस्था से कड़े सवाल भी पूछें हैं। सत्ता द्वारा फैलाये आदिवासियों के विकास के सारे भ्रम को ये दूर करते हैं और इनके नीतियों की विसंगतियों पर प्रहार करते हैं।

अतः यह मानने में हमें शर्म नहीं आनी चाहिए कि विकास के नाम पर आदिवासी समुदाय के साथ खिलवाड़ होता रहा है। प्रकृति का मूल निवासी आदिवासी समुदाय अपने जल-जंगल-जमीन से जुड़ा हुआ अपने सहजीविता के सिद्धांत के साथ जीने का आग्रही है। विकास के नाम पर और इन्हें सभ्य बनाने की होड़ में इन्हीं की आदिवासियत पर जाने-अनजाने प्रहार किए गए हैं। इनके अस्मिता पर होते प्रहार इन्हें संघर्ष के लिए अमादा कर रहे हैं। इनका संघर्ष इनकी अस्मिता को बनाए एवं बचाए रखने का प्रामाणिक प्रयास मानकर इनकी वास्तविक जरूरतों को पूरा करना समाज, राजनीती एवं व्यवस्था का प्रमुख दायित्व बनता है। ऐसा कहना गलत न होगा।

संदर्भ ग्रंथ

1. सं. गुप्ता रमणिका, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ क्र. 101
2. सं. गुप्ता रमणिका, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ क्र. 51
3. पुतुल निर्मला नगाड़े की तरह बजाते शब्द भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, पृष्ठ क्र. 12
4. सं. गुप्ता रमणिका, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ क्र. 54
5. पुतुल निर्मला नगाड़े की तरह बजाते शब्द भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, पृष्ठ क्र. 41

6. वही, पृष्ठ क्र. 44-45
7. सं. गुप्ता रमणिका, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ क्र. 77-78
8. वही, पृष्ठ क्र. 65
9. लुगुन अनुज, बाघ और सगुना मुंडा की बेटी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ क्र.25
10. वही, पृष्ठ क्र. 33
11. सं. मोणा सुरेश चंद, मोणा चैनसिंह, आदिवासी साहित्य समकालीन चुनौतियाँ, क़लमकार पब्लिशर्स प्रा. लि. दिल्ली, पृष्ठ क्र.45
12. सं. गुप्ता रमणिका, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ क्र.52
13. वही, पृष्ठ क्र. 117
14. पुतुल निर्मला नगाड़े की तरह बजाते शब्द भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, पृष्ठ क्र.43
15. वही, पृष्ठ क्र. 43
16. सं. गुप्ता रमणिका, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ क्र.129